इकाई 4 स्तरीकरण: सामाजिक लिंग (जेंडर) सोच और जातीयता से जुड़े आयाम

इकाई की रूपरेखा

4.0 उद्देश्य

नवीनतम अध्ययनों से सिद्व हो गया है कि सामाजिक स्तरीकरण में सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) और जातीयता के मुद्दों की महत्वपूर्ण और निर्णायक भूमिका है। इस इकाई को पढ़ लेने के बाद आप:

- सामाजिक लिंग और जातीयता की परिभाषा दे सकेंगे और इन दोनों से जुड़े मुद्दों के सामाजिक स्तरीकरण के निहितार्थों को यह समझा सकेंगे;
- भारत जैसे बहुविध समाज में सामाजिक लिंग (जेंडर) और जातीयता के बुनियादी मुद्दों को समझा सकेंगे,
- असमान सामाजिक लिंग संबंधों का सामाजिक स्तरीकरण में महत्व समझ पाएंगे;
- यह जान सकेंगे कि जातीय अल्पसंख्यक सांस्कृतिक दृष्टि से बहुसंख्यकों से किस तरह से भिन्न हैं; और
- यह समझ पाएंगे कि वर्तमान में जातीय पहचान किस तरह भारत में क्षेत्रीय स्वायत्तता के लिए हो रहे आंदलनों का चरित्र बन गई है।

4.1 प्रस्तावना

इस इकाई में स्तरीकरण के संदर्भ में सामाजिक लिंग सोच और जातीयता से जुड़े नये मुद्दों को समझने का प्रयास किया गया है। एक तरह से इन्हें नया कहना सही भी है और गलत भी। यह सही इस अर्थ में है कि ये मुद्दे वर्तमान समय के विशेष सरोकार हैं। इन्होंने स्तरीकरण के प्रचलित सिद्धातों की इस

तरह से पूछताछ की है जैसी अभी तक नही हुई थी। मगर वहीं यह गलत इसलिए है कि जातीयता और सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) सभी जगह स्तरीकरण व्यवस्था में गुंथे हुए थे लेकिन इन पर कभी ध्यान नहीं दिया गया। यह एक अति महत्वपूर्ण बात है कि जब कभी सामाजिक आंदोलनों ने प्रश्न उठाए हैं समाजशास्त्र को समय-समय पर अपनी तमाम अवधारणाओं और श्रेणियों की पुनर्समीक्षा करने के लिए बाध्य होना पड़ा है। इससे पहले कि उन प्रश्नों पर गौर करें जो सामाजिक लिंग सोच और जातीयता ने उठाए हैं, हम संक्षेप में कुछ बिंदुओं पर रोशनी डालेंगे जो स्तरीकरण के संबंध में दोनों की चर्चा के लिए प्रासंगिक हैं।

4.2 सामाजिक लिंग सोच और जातीयता

इकाई के इस भाग में हम तीन मुद्दों को ले रहे हैं जो सामाजिक लिंग और जातीयता के बीच समान रूप से पाए जाते हैं।

4.2.1 अल्पसंख्यक कौन हैं?

संयुक्त राष्ट्र संघ की रिपोर्ट (1980) के मुताबिक: "विश्व की जनसंख्या का आधा हिस्सा महिलाएं हैं। दो तिहाई कार्य घंटे का काम वही करती हैं। लेकिन विश्व की आमदनी का सिर्फ दसवां हिस्सा उन्हें मिलता है और विश्व उन्हें संपत्ति में सौवें हिस्से से भी कम का स्वमित्व उन्हें प्राप्त है।''
यही बात दक्षिण अफ्रीका के काले लोगों के लिए कही जा सकती है। वे बहुत मौलिक अर्थ में अल्पसंख्यक हैं। अल्पसंख्यक समूह की लुई विर्थ की इस परिभाषा को हेलन मेयर हैकर ने भी स्वीकार किया है:
"अलसंख्यक समूह ऐसा जनसमूह है जिसे उसकी शारीरिक और सांस्कृतिक विविशष्टताओं के कारण अपने समाज में अलग से चिन्हित कर दिया जाता है और इस आधार पर उनसे अलग और असमान व्यवहार किया जाता है। इसलिए यह जनसमूह स्वयं को सामूहिक भेदभाव का निशाना समझता है।" इस परिभाषा से सहमत होना हमारे लिए उपयोगी हो सकता है।

अमरिकी अश्वेतों और महिलाओं की स्थिति की तुलना के आधार पर हैकर कहते हैं कि महिलाओं का वर्गीकरण एक अल्पसंख्यक समूह के रूप में करने से कुछ लाभ हैं। इसका सबसे पहला लाभ यह है कि दोनों समूहों (अश्वेतों और स्त्रियों) में "उच्च सामाजिक दृश्यमानता" देखने को मिलती है । अश्वेतों लोगों में उनकी नस्लीय विशिष्टताओं और कुछ हद तक वेशभूषा और महिलाओं में यह उनके यौन लक्षणों और स्त्रियोचित परिधानों के रूप में प्रकट होती है। लेकिन अन्य विद्वान इस स्थापना से सहमति नहीं रखते। उदाहरण के लिए एंथनी गिडंस इस सिद्धांत के प्रतिपक्ष में कहते हैं कि यह अपने आप में विरोधाभासी होगा कि जनसंख्या के उस एक हिस्से को अल्पसंख्यक कहा जाए जो कि बहुसंख्यक हो सकता है वह कहते हैं:
"कुछ विद्वानों ने कहा है कि यह धारणा संख्यात्मक होने के बजाए समाजशास्त्रीय है इसलिए अल्पसंख्यक कुछ खास परिस्थितियों में जनसंख्या के बहुसंख्यक हो सकते हैं। उदाहरण के लिए दक्षिण अफ्रीका में अपेक्षतया मुट्ठी भर गोरे लोग संख्या में अपने से कहीं ज्यादा अश्वेत लोगों पर वर्चस्व बनाए रखे हुए हैं मगर ऐसी स्थिति में उनके लिए अल्पसंख्यक शब्द का प्रयोग करना विरोधाभासी होगा। वास्तविकता यह है कि अश्वेत लोग वहां इतनी बडी संख्या में हैं कि उससे समाज की समग्र बनावट में बड़ा अंतर पडता है। इसी प्रकार पाश्चात्य जगत् में असमानताओं पर होने वाली चर्चाओं में कभी-कभी "महिला और अन्य अल्पसंख्यक" जैसा जुमला सुनने को मिलता है हालांकि महिलाएं विश्व की आधी जनसंख्या हैं। 'अल्पसंख्यक समूह' शब्द का प्रयोग अगर हम सिर्फ उन लोगों के लिए करें जिनके साथ भेदभाव होता है और जो जनसंख्या का बड़ा हिस्सा नहीं हों, तो इससे हमें कम से कम भ्रम होगा।"

4.2.2 संजातीय अल्पसंख्यक

गिडंस जोर देकर कहते हैं कि समाजशास्त्र में बड़े पैमाने पर प्रयुक्त होने वाली संजातीय अल्पसंख्यकों या अल्पसंख्यक समूहों की धारणा में संख्याओं से ज्यादा कुछ और भी निहित है। मगर वह यह महसूस करते हैं कि समाजशास्त्र में जो तीन विशेषताएं अल्पसंख्यक समूहों को परिभाषित करती हैं वे महिलाओं की

कसौटी में खारी नहीं उतरती हैं क्योंकि महिलाएं अफ्रीका के अश्वेत की तरह संख्या की दृष्टि से बहुसंख्यक समूह हैं। एक अल्पसंख्यक समूह की तीन विशेषताएं इस प्रकार होनी चाहिए:

i) इसके सदस्य अन्य लोगों द्वारा उनके प्रति बरते जाने वाले भेदभाव के कारण वंचित और अलाभकर स्थिति में होते हैं। यह भेदभाव तब पैदा होता है जब एक समूह के लोगों को मिलने वाले अधिकार और अवसर दूसरे समूह को नहीं दिए जाते।

ii) अल्पसंख्यक समूह के सदस्यों में सामूहिक एकता के कारण एक दूसरे से जुड़े होने की भावना होती है। पूर्वाग्रहों और भेदभाव का शिकार होने का अनुभव उनमें सामूहिक वफादारी और हितों की भावना को और मजबूत बनाता है। अल्पसंख्यक समूहों के लोग अक्सर अपने को बहुसंख्यकों से एकदम अलग लोग मानते हैं।

iii) प्राय: अल्पसंख्यक समूह कुछ हद तक बहुसंख्यक समुदाय से भौतिक और सामाजिक रूप से अलग-अलग रहते हैं। देश के कुछ भू-भागों, शहरों या बस्तियों में उनका जमावड़ा रहता है। बहुसंख्यक और अल्पसंख्यक समूह के सदस्यों के बीच अतंरजातीय विवाह नहीं होते। अल्पसंख्यक समूह के लोग अपनी सांस्कृतिक विशिष्टता बनाए रखने के लिए अंतर्विवाह (समूह के भीतर विवाह) को ही बढ़ावा देते हैं

अभ्यास 1

विभिन्न लोगों और अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों से संजातीय अल्पसंख्यकों समेत अल्पसंख्यकों से जुड़ी धारणा पर चर्चा कीजिए। इस चर्चा के परिणाम को अपनी नोटबुक में लिख लीजिए।

गिडंस विशेष रूप से इस बात पर जोर देते हैं कि समाजशास्त्र की दृष्टि से अल्पसंख्यक सिर्फ संख्या का विषय नहीं हैं। अगर हम 'भेदभाव' या 'वंचित' के पहले बिंदु की बात करें तो निश्चय ही यह समूह के रूप में महिलाओं पर लागू होती है, भले ही उनके भीतर अंतर कितने ही गहरे हों। भेदभाव का स्वरूप और तीव्रता में काफी भिन्नता होती है, मगर यह कहना गलत नहीं होगा कि सभी समाजों में पुरुषों के मुकाबले स्त्रियां वंचित और अलाभकर स्थिति में ही रहती हैं। लेकिन सभी समाजों में महिलाओं के साथ भेदभाव नहीं बरता जाता, इसे सिद्ध करने के लिए अक्सर हमें खासी जैसे मातृवंशीय समाजों का उदाहरण दिखाया जाता है। मगर नवीनतम शोधकार्यो से यह सिद्ध हो जाता है कि खासी जैसे समाजों में भी परिवार के अंदर संपत्ति और निर्णय लेने का अधिकार पुरुष मुखिया को ही होता है। वह मुखिया पति न होकर उसका भाई होता है। इसी प्रकार सार्वजनिक कार्यक्षेत्र में भी महिलाओं का राजनीतिक ढांचों और प्रक्रियाओं में प्रतिनिधित्व घोर निराशाजनक है। दूसरे बिन्दु में कुछ रोचकता है क्योंकि महिला आंदोलन के फलस्वरूप 'एकात्मता' और 'एक दूसरे से जुडे होने' की भावना आज कुछ प्रभावशाली सामाजिक वास्तविकता बन गई है। अगर ऐसा नहीं होता तो शायद यह इकाई लिखी नहीं जाती जो शायद इस तरह के परिवर्तन का ही परिणाम कहा जा सकता है। महिला आंदोलन की इस 'एकात्मता' के चलते सरकारों, कानून बनाने वाली संस्थाओं, अंतरराष्ट्रीय संगठनों ने किसी न किसी रूप में प्रतिक्रिया की है। उधर, विश्वविद्यालय जैसे उच्च शिक्षा संस्थानों को भी यह एहसास हो गया है कि महिला आंदोलन के परिणामस्वरूप जो नए परिप्रेक्ष्य समाज में उभरे है उन्हें भी पाठ्यक्रमों में शामिल किया जाना चाहिए। तीसरा पहलू है भौतिक और सामाजिक पार्थक्य का। महिला आंदोलन के लिए यह मुद्दा बेहद महत्वपूर्ण रहा है।

बाक्स 4.01

आंदोलनकर्ता और विद्वान सिद्धांतकार, दोनों ही इस वास्तविकता को गहराई से जानते हैं कि महिलाएं पुरुषों से उस तरह अलग नहीं होतीं जिस तरह कुछ अल्पसंख्यक समाज में अलग होते हैं। असल में परिवार में स्त्री और पुरुष अक्सर गहरे भवनात्मक संबंधों में बंधे होते हैं। गिडंस का यह तर्क अकाट्य है कि महिलाएं किसी कस्बे, शहर या गांव के अलग-थलग हिस्सों में अलग से नही रहती। कई अल्पसंख्यक समुदाय इस तरह से रहते है तो कई नहीं रहते। इसलिए इसे किसी अल्पसंख्यक समाज को परिभाषित करने वाली विशेषता के रूप में नहीं लिया जाना चाहिए।

मगर यहां यह बात कही जा रही है कि महत्वपूर्ण अंतर के बावजूद संजातीय समूह और महिलाएं दोनों निर्णय करने के मामले में हाशिये पर हैं। वे कम शक्तिशाली, कम दृश्यमान हैं और अक्सर उन्हें पूर्वाग्रहों का शिकार होना पड़ता है। इसलिए महिलाओं को एक अल्पसंख्यक समूह के रूप में देखना उनकी अलाभकर स्थिति को मान्य बनाने की दिशा में एक कदम होगा।

4.2.3 असमानता और अंतर

सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययनों में यह मानकर चलने की प्रवृति हावी रही है कि स्तरीकरण का मतलब क्रम परंपरा और असमानता है। दीपंकर गुप्ता ने यह स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि सामाजिक स्तरों को शुद्ध किताबी अंदाज में धरती के गर्भ में विद्यमान भू-स्तरों की उपमा देना भ्रामक है। गुप्ता के शब्दों में यह इसलिए भ्रामक है क्योंकि: "अलंकारिक रूप से यह हमें यह विश्वास करने लिए मना सकता है कि स्तरीकरण का अर्थ हमेशा ऐसे स्तरों से होता है जो लंबवत् या क्रम परंमरा में व्यवस्थित रहते हैं स्तरीकरण को सही ढंग से समझने के लिए हमें इसे क्रम-परंपरा से अलग करके देखना होगा क्योंकि क्रम परंपरा स्तरीकरण के अनेक रूपों में उसका सिर्फ एक रूप है।"

गुप्ता का तर्क है कि स्तरीकरण की सभी पद्धतियां क्रम परंपरात्मक नहीं हैं। कुछ पद्धतियाँ क्रम-परंपरात्मक हैं तो कई नहीं हैं। वह कहते है: कुछ स्तरणकारी पद्धतियों में क्रम परंपरा के बजाए अंतर या भेद अधिक प्रभावी होते हैं। दूसरे शब्दों में इन अंतरों के संघटनात्मक तत्व कुछ इस तरह के हैं कि अगर उन्हें हम क्रम परंपरात्मक रूप से देखने का प्रयास करते हैं तो वह इन तत्वों को तार्किक गुणधर्म को हानि पहुंचाता है। यहां स्तर लंबवत् या क्रम-परंपरात्मक रूप से व्यवस्थित नहीं होते, बल्कि वे समस्तर पर या कभी अलग अलग भी व्यवस्थित होते हैं।"

स्तरीकरण के इस स्वरूप में अंतर सर्वोपरि है, जिसे स्पष्ट करने के लिए गुप्ता लिखते हैं:

इस तरह के विन्यास को भाषा, धर्म या राष्ट्रीयताओं की स्थिति में आसानी से स्पष्ट किया जा सकता है। अगर भाषाओं या धर्मों या राष्ट्रीयताओं का क्रम परंपराकरण करने का प्रयत्न किया जाता है तो वह निरर्थक और निस्संदेह सनकीपन ही होगा। इस किस्म के स्तरीकरण को स्पष्ट करने के लिए भारत एक सही उदाहरण है। भारत में जो अलग-अलग भाषाएं बोली जाती हैं वे सामाजिक स्तरीकरण की समस्तरीय पद्धति का बड़ा गुणगान करती हैं। जिसमें भेद सर्वोपरि हैं। इसके अलावा धर्म निरपेक्ष भारत हमें धार्मिक स्तरीकरण का उदाहरण भी देता है जिसमें धर्मों को क्रम परंपराबद्ध नहीं किया गया है या कानून में असमान अधिकार नहीं दिया गया है, बल्कि सभी को अलग-अलग रहने की स्वतंत्रता है। इसमें अपने नैसर्गिक अंतर या भेदों का पूरा बोध रहता है।

यहां यह बात कही जा रही है कि भाषायी, धार्मिक, संजातीया या सामाजिक लिंग के भेदों को क्रम परंपराबद्ध करने का कोई तर्कसंगत कारण नहीं है। बल्कि, जैसा कि स्वयं गुप्ता स्वीकार करते हैं, "अधिकांश लोगों की जर में धर्म, भाषा, लिंग, राष्ट्रीयता ये सभी क्रम परंपराबद्ध हैं हालांकि उनसे यह स्पष्ट कथन प्राप्त हो पाना बड़ा कठिन होता है कि किन प्रतिमानों के आधार पर इन क्रम परंपराओं की रचना हुई है। असल में एक समाजशास्त्री के लिए यह प्रश्न पूछने योग्य है: इसका क्या कारण है कि लोगों में समस्तरीय विभेदों को क्रम परंपरा में बांटने की प्रवृत्ति होती है जिनका तार्किक गुणधर्म समानता है?"

4.2.4 क्रम परंपरा और अंतर

तार्किक विशिष्टताओं के महत्व के बावजूद भेद या अंतर क्रम परंमरात्मक ही होते हैं। संजातीय अल्पसंख्यक और स्त्रियों दोनों को भारी वैमनष्य, पूर्वाग्रह और भेदभाव का सामना करना पड़ता है। पूर्वाग्रह मुख्यत: रूढ़िवादी दृष्टिकोण के प्रयोग से काम करता है। दरअसल, जिन श्रेणियों के जरिए हम अपने अनुभव को वर्गों में बांटते हैं। वे हमारे चिंतन का ही हिस्सा होती हैं। मगर कभी-कभी ये श्रेणियां गलत सोच और सूचना पर आधारित और कठोर होती हैं। जहां रूढ़िरूप (स्टीरियोटाइप) भय

और आशंका से जुड़ी हों, उसमें स्थिति बड़ी कठिन हो जाती है। एक गोरे आदमी को सभी काले लोग आलसी और मूर्ख लग सकते हैं। इसी तरह एक पुरुष सभी महिलाओं को निपट मूर्ख और उन्मादी मान सकता है। सवर्ण हिन्दु को यह महसूस हो सकता है कि अल्पसंख्यकों को खुश किया जा रहा है। समाजशास्त्रियों ने इस तरह का 'बली को बकरा' बनाने की व्याख्या के लिए विस्थापन की अवधारणा का प्रयोग किया है।

रूढ़िप्ररूपण (स्टीरियोटाइपिंग) अक्सर विस्थापन की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया से घनिष्ठ रूप से जुड़ा होता है। विस्थापन में वैमनष्य या क्रोध की भावना उन वस्तुओं और व्यक्तियों की ओर मुड़ जाती है जो कि इसका वास्तविक कारण नहीं होते। दूसरे शब्दों में इसका यह मतलब है कि जैसे विकट बेरोजगारी के दौर में संजातीय समूह या महिलाओं पर नौकरियां हथिया लेने का दोष मढ़ दिया जाता है या उन्हें 'बलि का बकरा' बनाया जाता है।

हालांकि चर्चा के विषय पर लौटें तो भेद या अंतर अनिवार्यतः असमान या क्रम परंपरात्मक नहीं होते मगर व्यवहार में सामाजिक लिंग और संजातीयता में क्रम-परंपरा और असमानता दोनों के गुण बताए जाते हैं।

4.2.5 सामाजिक लिंग (जेंडर) और संजातीय भेद

महिलाएं और संजातीय समूह दोनों अति दृश्यमान हैं। वे भिन्न 'दिखाई' देते हैं। एक अल्पसंख्यक संजातीय समूह अमेरिका में अपने रंग, केश और नैन नक्श से अलग दिखाई दे सकते हैं तो महिला को अलग दिखाई देना चाहिए। उसे न केवल अपने 'पुरुष' लोगों से कद में छोटा, कमजोर, वजन में उनसे हल्का होना चाहिए बल्कि उसका पहनावा, चाल-ढाल, बोल-चाल और हाव-भाव भी अलग होने चाहिए। संजातीय अल्पसंख्यक और महिलाओं में अन्य विशेषताएं भी बताई जाती हैं जो उनमें स्वयंसिद्ध रूप से बिलकुल स्पष्ट नहीं होती। आप सभी को अपनी-अपनी भाषा-बोली में प्रचलित लोकोक्तियों की जानकारी तो अवश्य होगी जिनमें स्त्रियों को अविश्वासपात्र, बदजुबान, उच्छृंखल, धूर्त कपटी, अबला और न जाने क्या क्या संज्ञाएं दी जाती हैं। यहां पर गौर करने लायक बात यह है कि प्राकृतिक भेदों और अर्जित भेदों के बीच कोई स्पष्ट विभाजन रेखा दिखाई नहीं देती है। इन भेदों को बस एक बार प्राकृतिक मान लिया जाता है तो इसका यह अर्थ लगा लिया जाता है कि इन्हें बदला नहीं जा सकता।

नारीवादी विद्वानों ने यौन-लिंग (सेक्स) को सामाजिक लिंग सोच (जेंडर) से अलग करके देखने पर विशेष बल दिया है। गिडंस का कहना है:

साधारण बोल-चाल में 'सेक्स' (यौन-लिंग) शब्द का एक व्यक्ति की श्रेणी और लोग जिन क्रिया-कलापों में लगे रहते हैं दोनों के लिए प्रयोग किया जाना अपने आप में अनेकार्थी और अस्पष्ट है। जैसे कि इस शब्द का प्रयोग "संभोग करना" जैसे वाक्यांशों में होता है । स्पष्टता के लिए हमें इन दोनों अभिप्रायों को एक दूसरे से अलग करना होगा। हम स्त्री-पुरुष के बीच विद्यमान जैवीय या शारीरिक भेदों को यौन क्रिया-कलापों से अलग कर सकते हैं। हमें सेक्स (यौन-लिंग) और जेंडर (सामाजिक-लिंग) के बीच भी एक महत्वपूर्ण भेद करना होगा। यौन-लिंग का अभिप्राय स्त्री-पुरुष के बीच शरीरिक भेदों से है तो सामाजिक-लिंग (जेंडर) का संबंध स्त्री-पुरुष के बीच मनोवैज्ञानिक, सामाजिक और सांस्कृतिक भदों से है। यौन-लिंग और सामाजिक-लिंग के बीच अंतर बुनियादी है, क्योंकि स्त्री-पुरूष के बीच कई भेद अपने मूल में जैविक नहीं हैं।

पाश्चात्य समाजशास्त्र नस्ल या संजातीयता के प्रश्न पर यूं तो बड़ा ही संवेदनशील है, मगर उसमें भी सांस्कृतिक और प्राकृतिक भेदों का घालमेल करने का प्रचलन असामान्य नहीं है। गिडंस लिखती हैं: संजातीयता सांस्कृतिक प्रचलनों और दृष्टिकोणों को कहते हैं, जो लोगों के समुदाय विशेष को एक-दूसरों से भिन्न बनाती हैं। जातीय समूह स्वयं को समाज में अन्य समूहों से सांस्कृतिक रूप से भिन्न और विशिष्ट समझते हैं और अन्य समूह भी उन्हें ऐसा ही मानते हैं। संजातीय समूहों को कई विशेषताएं एक दूसरे से अलग करती हैं। मगर इनमें सबसे सामान्य विशेषताएं इस प्रकार हैं:

भाषा-बोली, इतिहास या वंश (वास्तविक या काल्पनिक) धर्म, वेशभूषा या श्रृंगार। जातीय भेद पूर्णत: ज्ञेय होते हैं। यह बात हमें तभी तक स्वयं सिद्ध दिखाई देती है जब हमें यह याद हो आता है कि किस तरह से इन समूहों को यह माना गया है कि "इनका जन्म शासन करने" के लिए हुआ है या फिर इसके विपरित उन्हें स्वभाव से आलसी बुद्धिहीन आदि माना गया है।

यहां गौरतलब है कि समाज के प्रभावी समूहों में जातीय अल्पसंख्यक और महिलाओं दोनों को ऐसे गुणों से जोड़ कर देखने की प्रवृत्ति हावी रहती है जिन्हें वे नैसर्गिक और जैविक रूप से प्रदत्त मानते हैं। जातीय समूहों और महिलाओं के बारे में एक और महत्वपूर्ण बात कहना जरूरी है कि ये उस आत्मपरिभाषा को चुपचाप स्वीकार कर लेते हैं जो उन्हें समाज से मिली है। यही कारण है कि अमेरिका में, जहां सौंदर्य की धारणाएं जनमानस में गहरे अंकित हैं, अश्वत बालिका श्वेत गुड़िया को पसंद करती है। या हम एक भारतीय स्त्री का ही उदाहरण लें, जो बेटा होने पर सशक्त, अधिकारसंपन्न बन जाती है और उन महिलाओं को हेय दृष्टि से देखने लगती है जो उसकी तरह भाग्यशाली नहीं हैं।

जेंडर (सामाजिक-लिंग) और यौन-लिंग (सेक्स) में महत्वपूर्ण भेद होने के अलावा नारीवादी तर्क देते हैं कि सामाजिक-लिंग व्यक्ति (स्त्री या पुरुष द्वारा किए जाने वाले) कार्यों का समुच्चय है। जन्म लेने के बाद से ही शिशु सीखने लगता है कि उसने सामाजिक-लिंग सम्मत कार्यों को किस तरह सही सही अंजाम देना है। नारीवादियों का यह भी तर्क रहा है कि सामाजिक-लिंग सम्मत भेद मनमाने हैं और जिसे अक्सर 'पुरुषेचित' और 'स्त्रियोचित' आचरण कहते हैं वह सभी संस्कृतियों और अश्वतों में अलग-अलग रहा है। बुनियादी बात यह है कि सामाजिक लिंग एक सामाजिक रचना है न कि प्रकृति प्रदत्त। यही बात जातीय समूहों के लिए भी लागू होती है। काला गोरे से भिन्न है। यह एक स्वाभाविक और स्वयं सिद्ध वास्तविकता है। मगर काले और 'गोरे' को हमने जो अर्थ दिया है वह सामाजिक है। और जो भी सामाजिक होता है वह अक्सर सत्ताधिकार से भरा होता है। चूंकि विश्व में प्रभावी समूह यह समझते हैं कि श्वेत आकर्षक और सुंदर है इसीलिए अश्वेत लोग भी ऐसे ही सोचते हैं। इसी प्रकार महिलाओं को 'अबला' की संज्ञा दी जाती है तो वह भी ऐसा ही मानने लगती है।

बोध प्रश्न 1

1) संजातीय अल्पसंख्यकों के बारे में पांच पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

2) सामाजिक-लिंग और जातीय भेद क्या हैं? पांच पंक्तियों में बताइए:

....

....

....

....

....

....

4.3 जातीयता और स्तरीकरण

अधिकतर आधुनिक समाजों में अनेक प्रकार के जातीय समूह हैं। उदाहरण के लिए ब्रिटेन में आइरिश, एशियाई (इनमें से भी कई हैं), वेस्ट इंडियन, इतालवी और ग्रीक मूल के अप्रवासी रहते है। मगर यहां पर

यह प्रश्न उठता है कि जब भी हम किसी समाज की बात करते हैं तो क्या हम अनिवार्यतः राज्य की ही बात कर रहे होते हैं। हां, अक्सर हम राज्य की ही बात कर रहे होते हैं। इसीलिए हम भारतीय समाज, पाकिस्तानी समाज, अमेरिकी समाज कहते हैं। ऐसे में अनिवार्यतः यहां ऐसी बहुविधा सत्ता की बात कर रहे होते हैं जिसमें अनेक समाज और एक राज्य होता है। कई समाजशास्त्रियों का तर्क है कि विभिन्न सांस्कृतिक समूह 'राष्ट्र' हैं तो दूसरे विद्वान इन्हें 'जातीय' समूह की संज्ञा देते हैं। क्या दोनों एक ही हैं?

यहां कुछ सिद्धांतों की समीक्षा करना रोचक होगा। गिडंस के मुताबिकः विश्व में आज, चाहे वह औद्योगिक रूप से उन्नत विश्व हो या पिछड़ा, अधिकांश समाज बहुविध समाज हैं। बहुविध समाज में कई विशाल जातीय समूह होते हैं जो एक ही सामाजिक और आर्थिक व्यवस्था का हिस्सा तो होते हैं मगर वहीं एक-दूसरे से मोटे तौर पर भिन्न होते हैं।

एंथनी स्मिथ के मत के अनुसार राष्ट्रवाद का उदय धर्म, भाषा, रीति-रिवाज, साझे इतिहास और उत्पत्ति के सामूहिक मिथकों के बंधनों से हुआ था। कालांतर में वह अपनी एक अन्य कृति में राष्ट्रवाद का रूप धारण कर रहे आधुनिक पुनरुत्थानों की बात करते हैं और 'जातीय' या जातीय समुदाय की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि यह एक ऐसा सामाजिक समूह है जिसके सदस्यों में साझी उत्पत्ति का बोध होता है, जो एक साझे और विशिष्ट इतिहास और नियति का दावा करते हैं, जिनमें एक या अधिक विशिष्ट लक्षण होते हैं और सामूहिक विशिष्टता और एकात्मता का बोध होता है।

क्या इसका यह अर्थ है कि राष्ट्र और जातीय और इसलिए जातीयता और राष्ट्रीयता में कोई अंतर नहीं है? नहीं, स्मिथ के अनुसार इनमें कोई अंतर नहीं है। जातीय एक निष्क्रिय धारणा है और राष्ट्रीयता सक्रिय जातीयता है क्योंकि जातीय पुनरुत्थान निष्क्रिय, अक्सर पृथ्कृत और राजनीतिक दृष्टि से बहिस्कृत समुदायों का संभावित और वास्तविक राष्ट्रों में रुपांतरण है जो अपने ऐतिहासिक पहचान में सक्रिय भागीदार और आत्म-चेतन होते हैं। ऊमेन के अनुसार इस परस्पर-व्यापन के बावजूद इनमें एक अति महत्वपूर्ण भेद है, जिसे हम प्रादेशिक आयाम में देख सकते है। ऊमेन का मत बूजली से भिन्न है जिनके अनुसारः

4.3.1 राष्ट्रवाद और जातीयता

राष्ट्रवाद भी एक प्रकार की जातीयता है। मगर यह उसका विशेष रूप है। यह असल में एक खास जातीय पहचान को राज्य से जोड़कर उसका संस्थापन है। जातीय समूह जरूरी नहीं है कि हमेशा मिल-जुलकर कार्रवाई करें, बल्कि वे ऐसा तभी कर सकते हैं उन्हें किसी विशेष हित को साधना हो। पर यही हित जब एक राज्य (या राज्य का एक हिस्सा) बन जाते हैं तो यह समूह राष्ट्रीयता बन जाता है।

इसमें स्तरीकरण का स्थान कहां है?

ऊमेन की व्याख्या से इस प्रश्न का उत्तर कुछ हद तक मिल जाता है। इसके लिए उन्होंने असमानता से उपजी वंचनाओं, भौतिक वंचना और सांस्कृतिक पहचान से वंचित होना, इन विशिष्ट लक्षणों का उल्लेख किया है। उनका कहना है कि अगर किसी संजातीयता का अपनी कोई सामूहिक भाषा और अपना प्रदेश नहीं है तो वह स्वयं को एक राष्ट्र में नहीं बदल सकता। मगर यहां यह पहलू हमारे तात्कालिक सरोकार का विषय नहीं है। यहां यह बात महत्वपूर्ण है कि जन-समूह सिर्फ वर्ग या जाति के कारण ही वंचित नहीं हैं। बल्कि संजातीयता के कारण भी वे वंचित रह जाते हैं।

इसलिए भारत में सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन को सिर्फ जाति और वर्ग के मुद्दों को ही नहीं बल्कि जनजातियों और धार्मिक/भाषायी/क्षेत्रीय समुदायों से जुड़े मुद्दों को भी संबोधित करना होता है। पिछले एक-दो दशकों से जातीय/राष्ट्रवादी पुनरुत्थान में बड़ी तेजी आई है। हम ऐसी कई स्थितियों को चिन्हित कर सकते हैं जिनमें 'जातीयता' या बाहरी होने की पहचान राष्ट्रीयता या आंतरिक पहचान के मुकाबले एक मुख्य विशेषता बन जाती है। ये स्थितियां इस प्रकार हैं:

i) धर्म के नाम पर एक अलग राष्ट्र की मांग (जैसा कि सिखों के एक विशेष वर्ग की ओर से एक प्रभुतासंपन्न राष्ट्र खालिस्तान की मांग) या भाषा के नाम पर एक अगल राष्ट्र की मांग (इसका उदाहरण तमिलों द्वारा एक स्वतंत्र राज्य की मांग है)।

ii) भारतीय राज्य संघ के भीतर एक पृथक-राजनीतिक प्रशासनिक इकाई की मांग (जैसे नेपालियों के लिए गोरखालैंड, मध्य भारत की जनजातियों के लिए एक अलग झारखंड राज्य की मांग)।

iii) पर अन्य राज्यों या पड़ोसी देशों से आने वाले प्रवासियों के किसी प्रदेश पर पूरी तरह से हावी होने पर 'बाहरी' लोगों को निकाल बाहर करने की मांग (इस तरह की स्थिति हमें पूर्वोत्तर के असम और त्रिपुरा जैसे राज्यों में देखने को मिल रही है)।

v) ऐसे 'विदेशियों' को निकाल बाहर करने की मांग जिसका संबंध मूलत: राज्य के भीतर ही अन्य क्षेत्रों में रहने वाले लोगों से है (इस तरह की मांग छोटा नागपुर के आदिवासी लोग मैदानी क्षेत्रों में रहने वाले 'दीकू' बिहारियों को बाहर करने के लिए कर रहे हैं)। या इस तरह की मांग बाहरी राज्यों से आ बसे लोगों (जैसे बंगालियों और मारवाड़ियों) के खिलाफ की जाती है।

iv) इन लोगों को राज्य से निकाल बाहर करने की मांग जो एक ही सांस्कृतिक प्रदेश के तो नहीं होते मगर वे भी उसी राज्य के वासी होते हैं (जैसे तेलंगाना प्रदेश से आंध्र मूल के लोगों को निकाल बाहर करने की मांग)।

v) अन्य भाषायी राज्यों से काम के लिए महानगरों में आ बसे प्रवासियों को निकाल बाहर करने की मांग (इस तरह की मांग मुंबई और बंगलौर में तमिलों के खिलाफ उठाई गई थी)।

4.3.2 जातीय समूहों की प्रकृति

भारतीय और अंतरराष्ट्रीय संदर्भों से हमने जो उदाहरण दिए हैं उनसे एक बात स्पष्ट हो जाती है। जातीय समूहों को चाहे हम जिस परिभाषा में बांधे वे किसी न किसी रूप में राज्य और उसके प्रभावी समूह दोनों से अलाभकर-स्थिति में होते हैं। जैसा कि कुछ विद्वानों का मत है, जातीयता बहुअर्थी हो गई है। पश्चिम एशिया में जातीयता पर हुआ शोध यह प्रमाणित करता है कि जातीयता ने अब तक प्रयुक्त अल्पसंख्यक की धारणा को विस्थापित कर दिया है। यह कहा गया है कि पश्चिम एशिया में अरब एक मूल पहचान है, जिसकी विशेषताएं अरबी-भाषा और संस्कृति जैसे जातीय आयाम और इस्लाम का धार्मिक आयाम लिए हैं। अन्य लोग वहां इस अर्थ में अल्पसंख्यक हैं कि वे मूल अरब से अलाभकर-स्थिति में हैं। *ऑक्सफर्ड इंग्लिश डिक्शनरी* (1961) की परिभाषा के अनुसार 'जातीय' (विशेषण) का "संबंध उन कौमों से है जो ईसाई या यहूदी नहीं हैं; मूर्तिपूजक या अधर्मी हैं।

हम जातीयता को परिभाषित कैसे करें इसको लेकर विद्वानों में जो भी मतभेद हों, मुख्य मुद्दा यह है कि साधारणतया जातीय समूह समाज के वे जन-समूह हैं जो राज्य या समाज के प्रभावी समूह या अक्सर दोनों से अलाभकारी स्थिति में पाए जाते हैं। हमारे जैसे बहुविध समाज में जातीयता को हमें सामाजिक स्तरीकरण के एक सिद्धांत के रूप में लेना होगा। हो सकता है कि कुछ लोग आर्थिक रूप से संपन्न वर्ग से संबंध रखते हों, तो भी प्रभावी समूह से न जुड़े होने के कारण वे सांस्कृतिक रूप से अलाभकर-स्थिति में देखे जा सकते हैं। क्योंकि प्रभावी समूह को ही प्रतिमान समझा जाता है। उदाहरण के लिए तीन पीढ़ियों के बाद भी एक अमरीकी जापानी से यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि क्या वह अमरीकी है। मगर वहीं प्रवास के एक वर्ष के बाद ही एक अंग्रेज अमरीकी को अमरीकी के रूप में स्वीकार कर लिए जाएगा क्योंकि वह गोरा है, ईसाई है और अंग्रेजी बोलता है। इसी प्रकार एक मणिपुरी के छात्र का टेलीविजन पर कहना था कि मणिपुर में उससे कोई नहीं पूछता था कि वह भारतीय है या नहीं। मगर दिल्ली में लोग उससे यही सवाल करते थे।

बॉक्स 4.02

जातीय समूह भले ही वे संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे विकसित समाज में हों या भारत में, उनके अध्ययन से बहुसंख्यक संस्कृति से संबंध, स्वांगीकरण बनाम निभाव, गरीबी, असमानता, पार्थक्य और भेदभाव के बुनियादी सवालों से जुड़े मुद्दे उठते हैं। इन मुद्दों पर चर्चा की प्रासंगिकता का समकालीन भारतीय समाज के लिए जो महत्व है उसे बार-बार दोहराने की जरूरत नहीं है। इसमें भी किसी हठी या दुर्दम्य जातीय समूह के लिए जो घिसे-पीटे जुमले अक्सर प्रयोग किए जाते हैं, जैसे कि "उन्हें मुख्याधारा में शामिल किया जाना है या किया जाना चाहिए", उन पर अब सवाल उठाए जा रहे हैं। इसी प्रकार अमरीका का अनुभव भी हमसे कोई भिन्न नहीं कहा जा सकता क्योंकि वहां भी ऐसा ही लोकाचार प्रचलित है कि जातीय समूहों के लोगों को मुख्य धारा से जोड़ा जाए, उसमें उनका स्वांगीकरण हो। विविध जातीय समूहों के सदस्य जो मुख्यधारा में सक्रिय हों उनसे तो यह आशा की जाती है कि वे द्विसांस्कृतिक बन जाएं। यानी वे अपनी संस्कृति के साथ-साथ मुख्यधारा की संस्कृति को भी आत्मसात करें। मगर श्वेत अमरीकियों को ऐसा करने की जरूरत महसूस नहीं होती।

4.3.3 जातीयता और परिवार

जातीयता को हम अपने परिवार से अलग करके नहीं देख सकते। इसकी सीधी सी वजह यह है कि जातीयता की दृष्टि से बहुविध परिवारों में बच्चों के समाजीकरण की बहुविध प्रक्रिया के बड़े दूरगामी परिणाम होते हैं। यह आंशिक रूप से "संजाति-वर्ग" की धारणा को स्पष्ट करता है। यह अवधारणा सामाजिक वर्ग सदस्यता की भूमिका की व्याख्या करती है जो वह जातीयता से प्रभावित होने वाले जीवन की बुनियादी स्थिति को परिभाषित वर्ग के स्तर पर वर्गों में मौजूद भेदों को भी लेकर चलती है।

स्तरीकरण के अध्ययन में विशेषकर भौतिक और अभौतिक संसाधनों तक असमान पहुंच के अध्ययन में जातीयता को भी लेकर चलना जरूरी हो जाता है। जैसा कि शर्मा कहते हैं: "एक जातीय समूह को सामाजिक स्तरीकरण की एक प्रदत्त व्यवस्था में एक स्तर के रूप में देखा जा सकता है। यह इसलिए संभव है कि जातीयता वर्ग और सत्ताधिकार के संग चलती है।"

4.4 सामाजिक लिंग और स्तरीकरण

सामाजिक स्तरीकरण पर किया जाने वाला अध्ययन कई वर्षों तक 'सामाजिक-लिंग उदासीन' ही रहे। जैसे कि स्त्रियों का कोई अस्तित्व ही न हो। या जैसे कि सत्ताधिकार संपत्ति और प्रतिष्ठा के बंटवारे के विश्लेषण में महिलाएं महत्वहीन, रुचिहीन हों। मगर इसके बावजूद सामाजिक-लिंग अपने आप में स्तरीकरण का सबसे प्रमुख उदाहरण है। विश्व में कोई भी समाज ऐसा नहीं, जिसमें सामाजिक जीवन के किसी न किसी पहलू में पुरुषों को स्त्रियों से अधिक संपदा, उनसे ऊंचा दर्जा और प्रभाव हासिल न हो।

सामाजिक-लिंग के इस पहलू को अनदेखा करने के पीछे कई कारण हैं। सामाजिक-लिंग और जातीयता के मुद्दों में समानताओं पर अपनी चर्चा पर लौटें, तो महिलाओं का अधिकार नैसर्गिक रूप से हीन समझा जाता है। महिलाएं अबला और हाशिए पर हैं, इन दोनों धारणाओं को इस हद तक शब्दश: समाज में लिया जाता था कि महिला आंदोलन को इन्हें चुनौती देनी पड़ी। इसका यह पूछना था कि महिलाओं को गैर-बराबरी का दर्जा क्यों दिया जाता है। स्तरीकरण के अध्ययन में अधिकतर यह मानकर चला जाता था कि स्त्रियों की स्थिति को हम उसके पति, पिता, भाई या घर के मुखिया की स्थिति से जान सकते हैं।

अब घर का यह मुखिया निस्संदेह पुरुष को ही होना था, लेकिन वास्तविकता इसके विपरीत थी। हाल के अध्ययनों से यह सिद्ध हो चुका है कि अनेक महिलाएं अपने घर की मुखिया थीं। अब तो ऋणदाता संस्थाओं को पता चल गया है कि पुरुषों के बजाए स्त्रियों को ऋण देना अधिक उपयोगी और उत्पादक होता है। महिलाओं की सफलता की ऐसी गाथाएं दिनों-दिन प्रकाश में आने लगी हैं। मगर ये महिलाएं कोई बड़ी उद्यमी नहीं हैं। बल्कि ये गांव की गरीब महिलाएं हैं। जैसे मछुआरिन, खेतिहर किसान, जुलाहा इत्यादि। समाज में पहले तो यह गलत धारणा प्रचलित है कि स्त्री-पुरुष के बीच असमानताएं प्राकृतिक रूप

से जैविक कारणों से उत्पन्न होती हैं। दूसरी गलत धाणा यह है कि पुरुष घर का स्वाभाविक और सर्वमान्य मुख्यिा है। स्तरीकरण के अध्ययन में स्तरीकरण के एक सिद्धांत के रूप में सामाजिक-लिंग की उपेक्षा का कारण ये धारणाएं ही हैं।

जैसा कि इस इकाई से आपको स्पष्ट हो जाएगा, समाजशास्त्री अब यह महसूस कर रहे हैं कि सामाजिक स्तरीकरण के सिद्धांत रूप में सामाजिक-लिंग को गंभीरता से लिया जाना चाहिए। स्तरीकरण पर अपने नए शोध कार्य में शर्मा जैसे समाजशास्त्री ने सामाजिक-लिंग (जेंडर) और जातीयता के नए मुद्दों को उठाया है। यह पता लगाने के लिए बहस चल रही है कि आधुनिक युग में असमानताएं वर्ग के इर्दगिर्द घूमती हैं या इसमें सामाजिक-लिंग की क्या कोई निर्णायक भूमिका है?

4.4.1 सामाजिक-लिंग की असमानताएं

सामाजिक-लिंग असमानताओं की जड़ें वर्ग व्यवस्था की अपेक्षा इतिहास में अधिक गहरे पैठी हैं। शिकार और भोजन संचय करने वाले उन आदिम समाजों में पुरुषों को ऊंचा दर्जा हासिल था जिनमें कोई वर्ग नहीं थे। मगर आधुनिक समाज में वर्गीय विभाजन इतने बुनियादी हैं कि वे सामाजिक-लिंग भेदों से काफी व्यापन करते हैं। महिलाओं की भौतिक स्थिति में उनके पिताओं या पतियों की स्थिति को प्रतिबिंबित करती हैं। इसीलिए कुछ विद्वानों का तर्क है कि सामाजिक-लिंग असमानताओं को वर्ग के संदर्भ में स्पष्ट किया जा सकता है। फ्रैंक पार्किन ने इस पहलू को भली-भांति स्पष्ट किया है:

महिला का दर्जा रोजगार के अवसरों, संपत्ति के स्वामित्व, आमदनी, समेत सामाजिक जीवन में कई क्षेत्रों में पुरुषों की तुलना में निश्चय ही कई ज्यादा हानियां लेकर चलता है। मगर लिंग-भेदों से जुड़ी इन असमानताओं को उपयोगी ढंग से स्तरीकरण के घटकों के रूप में नहीं सोचा जाता है। इसका कारण यह है कि महिला के एक बड़े हिस्से के लिए सामाजिक और आर्थिक पारितोषिक का वितरण मुख्यत: उनके परिवार विशेषकर उनके नर मुखिया की स्थिति से निर्धारित होता है। हालांकि महिलाओं में उनके लिंग के कारण उनकी हैसियत में आज कुछ विशेषताएं समान रूप से पाई जाती हैं। लेकिन संसाधनों पर उनका अधिकार मुख्यत: उनके व्यवसाय से निर्धारित नहीं होता। बल्कि अक्सर यह उनके पिता या पतियों के व्यवसाय से ही निर्धारित होता है। और अगर वे धनाढ्य जमींदारों की बेटियां या पत्नियां हैं तो इसमें कोई संदेह नहीं है, उनकी समग्र स्थिति में अंतर कहीं ज्यादा आश्चर्यजनक और बड़ा होता है। महिला स्थिति से जुड़ी अक्षमताएं भी इतनी ज्यादा हो कि वर्गीय भेद उनके सामने बौने पड़ जाएं तो इस स्थिति में लिंग को स्तरीकरण का एक महत्वपूर्ण आयाम मानना ही यथार्थवादी होगा।

अभ्यास 2

सामाजिक-लिंग असमानताएं क्यों होती हैं? इस विषय पर अपने अध्ययन केन्द्र के सहपाठियों सहित अन्य लोगों से चर्चा करके अपनी जानकारी को नोटबुक में लिख लीजिए।

उपरोक्त सिद्धांत में प्रत्यक्ष तौर से कोई त्रुटि नजर नहीं आती है। असल में अपने दैनिक जीवन में हम जिन महिलाओं को जानते-पहचानते हैं उन्हें हम अधिकांशतया उनके पिता और पति के संदर्भ में ही परिभाषित करते हैं। एक वरिष्ठ सरकारी अधिकारी की पत्नी, जो खुद भी किसी अच्छे रोजगार में लगी हैं, उसे भी हम उसकी सार्वजनिक स्थिति के बजाए उसके पति की हैसियत से जानते हैं। परिवार की स्थिति या हैसियत उसके पुरुष मुखिया की स्थिति से तय होती है। पर अगर हम थोड़ा गहराई में जाएं तो यह बात यहीं पर समाप्त नहीं हो जाती।

4.4.2 पितृसत्ता और सामाजिक लिंग सोच

i) परिवार के बारे में हमारे विचार अक्सर हमारे निजी अनुभवों से उत्पन्न होते हैं। अगर हम शहरी मध्यम वर्ग या निम्न या उच्च वर्ग के हैं तो उसमें न्यूक्लीयर परिवार ही मानकीय होता है, जिसका मुखिया पुरुष रहता है। मानकीय से यहां हमारा तात्पर्य यह है कि यही पैटर्न अनुभवजन्य

रूप से न सिर्फ अनेक परिवारों के लिए सही होगा बल्कि अन्य किस्म के परिवारों को इसमें विसंगति के रूप में देखा जाएगा। एक ऐसा घर-परिवार जिसकी मुखिया स्त्री हो उसे विपथन के रूप में ही देखा जाएगा।

ii) दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस आदर्श या मानकीय पहलू के आधार पर ही राज्य में ऐसे नियम-कानून होंगे जो नर मुखिया वाले न्यूक्लीयर परिवार को आदर्श या मानक मानकर बनाए गए होंगे। कई महिलाएं जो घर-परिवार की मुखिया थीं उनके सामने ऐसी स्थिति आ गई कि उन्हें इस आधार पर गरीबी-उन्मूलन योजनाओं का लाभार्थी होने का अधिकार देने से मना कर दिया गया कि वे महिलाएं हैं इसलिए वे अपने घर की मुखिया नहीं हो सकतीं। यह ऐसा उदाहरण है जिसमें मानकीय वास्तविकता अनुभवजन्य वास्तविकता को किनारे धकेल देती है।

iii) तीसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि इस धारणा को कई तरह से गलत ठहरा सकते हैं जो यह मान कर चलती है कि पुरुष मुखिया की आय ही सबसे महत्वपूर्ण कारक है। इसलिए अगर कोई महिला कमा भी रही है तो भी इससे महिला की हैसियत से स्थिति में कोई बदलाव नहीं आएगा।

iv) कई घरों में महिलाओं की आमदनी उनके परिवार की आर्थिक स्थिति और जीवन शैली को बनाए रखने के लिए नितांत आवश्यक है। इस स्थिति में महिलाओं का वैतनिक-रोजगार आंशिक रूप से उनके घरों की वर्ग स्थिति को तय करती है।

v) पांचवी महत्वपूर्ण बात यह है कि पत्नी का रोजगार पति की हैसियत को प्रभावित कर सकता है। इसमें संदेह नहीं कि महिलाएं अपवाद स्वरूप ही अपने पति से अधिक धन अर्जन कर पाती हैं, लेकिन पत्नी का धन अर्जन के लिए काम करना भी उसके पति के वर्ग को प्रभावित करने वाला एक बड़ा महत्वपूर्ण कारक हो सकता है। उदाहरण के लिए, पति एक अर्ध-दक्ष नील-पोश (ब्लूकॉलर) कर्मचारी है और पत्नी किसी गारमेंट फैक्टरी में रोजगार कर रही है। इस स्थिति में पत्नी का व्यवसाय समग्र परिवार की स्थिति का मानक बन सकता है।

vi) ऐसे कई 'अंत: वर्गीय' (क्रॉस-क्लास) परिवार भी देखने में आते हैं जिसमें पति का कार्य पत्नी के कार्य से उच्च वर्ग की श्रेणी में होता है। इसके उलट स्थिति बहुत कम देखने में आती है। इसके परिणामों के विश्लेषण के लिए गिने-चुने ही अध्ययन हुए हैं जिसके कारण हम यह नहीं जानते कि क्या निर्णायक प्रभाव के रूप में हमेशा पुरुष के व्यवसाय को ही लेना उचित है।

vii) ऐसे परिवारों की संख्या बढ़ रही है जिनमें एकमात्र रोजी-रोटी कमाने वाली महिलाएं ही हैं।

इस उभरते रुझानों के निहितार्थों का विश्लेषण करना उपयोगी होगा। अक्सर ऐसा कहा जाता हैं कि पश्चिम में बदलते यौन प्रतिमानों और महिला स्वतंत्रता के कारण ऐसे एकल-अभिभावक घरों की संख्या बढ़ रही है, जिनकी मुखिया निर्विवाद रूप से स्त्रियां ही हैं। यह अर्द्धसत्य। उनके ही नहीं बल्कि हमारे समाज में भी इससे पहले से ही परित्यक्त महिलाओं के अनेक उदाहरण रहे हैं जिनमें पहले महिलाओं को हर लिया जाता था। ऐसी 'पतित महिलाएं' अक्सर घरों की मुखिया भी होती थीं। स्तरीकण के सिद्धांत में इस तरह की घटनाओं का विश्लेषण करने की क्षमता नहीं रही क्योंकि इसमें यह समझने के लिए एक विश्लेषिक श्रेणी के रूप में सामाजिक-लिंग का प्रयोग कभी नहीं हुआ कि पितृसत्ता का पुनर्सृजन वर्ग और परिवार व जातीयता के जरिए किस तरह से होता है।

नर मुखिया वाले मानकीय परिवार ने पुरुषों को वर्ग और परिवार दोनों के बाहर संबंध बनाने के लिए स्थान देकर अपनी शुद्धता और प्रामाणिकता बनाएं रखी। मगर वहीं मध्यम वर्गीय, सवर्ण महिला अगर विवाहेतर संबंध रखती थी तो उसे अपने वर्ग और परिवार दोनों से बाहर कर दिया जाता था। इधर भारत में वर्ण-व्यवस्था का अनुलोभ-विवाह का अपना एक नियम था। इसका यह मतलब था कि एक स्त्री अपनी जाति में या उससे ऊपर की जाति में ही ब्याह कर सकती थी। वह निम्न जाति में विवाह नहीं कर सकती थी। इसलिए स्तरीकरण के एक सिद्धांत के रूप में सामाजिक-लिंग के अध्ययन में सिर्फ यही देखकर नहीं चलना होगा कि एक परिवार में महिलाओं की क्या कोई हस्ती, कोई हैसियत है जो उन्हें अपने परिवार के पुरुष मुखिया से मिली है। बल्कि इसमें यह भी देखना होगा कि पितृसत्ता किस तरह से पुरुषों और महिलाओं के लिए विभेदी तरीके से कार्य करती है। जब हम स्तरीकरण और सामाजिक-लिंग

सोच पर चर्चा करते हैं तो हमें इसमें लैंगिकता के नियंत्रण से जुड़े मुद्दों, पवित्रता के प्रतिमानों, परिवार, वर्ग और जातीय प्रतिमानों/नियमों का उल्लंघन करने वाली महिलाओं पर थोपे जानी वाली सामाजिक वर्जनाओं या दंडों, पुरुष और महिला यौन आचरण के दोहरे मानदंड़ों को भी लेकर चलना होगा।

4.4.3 जातीयता और सांस्कृतिक वंचना

जैसा कि हमने जातीयता और स्तरीकरण की चर्चा करते हुए यह देखा था कि जाति या वर्ग की तरह जातीयता भी भौतिक और सांस्कृतिक वंचना निर्धारण में महत्वपूर्ण है। यही बात सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) के लिए भी कही जा सकती है। भारत में महिला आंदोलनों ने भूमि के अधिकार और उस तक पहुंच का मुद्दा उठाया है। महिलाएं खेतों में काम करती तो थीं लेकिन उन्हें कानून और रीति-रिवाजों ने भूमि के अधिकार से वंचित रखा। साम्यवादी चीन के शुरुआती वर्षों में महिलाओं को भूमि का अधिकार एक बहुत बड़ा मुद्दा था। वहां जब भूमि सुधार लागू हुए तो उसके फलस्वरूप भूमि-विलेखों (लैंड-डीड) का मुद्दा उठा। तब जाकर नियामकों को एहसास हुआ कि भूमि-विलेखों की इकाई यूं तो परिवार ही हो, मगर इसमें साफ-साफ यह भी दर्ज हो जाना चाहिए कि पुरुष और महिला दोनों को भूमि पर बराबर अधिकार होगा।

यह हमें परिवार और सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) के महत्वपूर्ण प्रश्न की ओर ले जाता है जो स्तरीकरण के मुद्दों से जुड़ा है। जैसे सांस्कृति और भौतिक संसाधनों तक असमान पहुंच। हमारे देश में अनेक जमींदार परिवार ऐसे हैं जो अपने बेटों को तो पढ़ाएंगे लेकिन बेटियों को नहीं। इसी प्रकार कई भूमिहीन परिवार अपने बीमार बेटे को तो डॉक्टर के पास ले जाएंगे, मगर अपनी बीमार बेटी को नहीं। कई मध्यम वर्गीय परिवार अपनी बेटी को इसलिए शिक्षित अवश्य करेंगे कि जरूरत पड़ने पर वह अपने बच्चों को घर में पढ़ा सके मगर इसलिए नहीं कि वह आजीविका कमाए। दूसरे शब्दों में, पुरुष और स्त्रियां एक वर्ग में एक ही परिवार के तो हो सकते हैं मगर भौतिक और अभौतिक संसाधनों तक पहुंच के मामले में उनका दर्जा एक-दूसरे से बिल्कुल भिन्न होता है।

बोध प्रश्न 2

1) राष्ट्रवाद और जातीयता के बारे में पांच पंक्तियां लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

2) पितृसत्ता और सामाजिक लिंग (जेंडर) पर पांच पंक्तियों में एक टिप्पणी लिखिए।

....

....

....

....

....

....

....

4.5 सारांश

अगर आप भारतवासी हैं तो ऐसा संभव नहीं कि आप हमारे समाज में संपदा और सत्ताधिकार, हैसियत और विशेषाधिकारों में विद्यमान भेदों से अपरिचित, अनजान हों। भेद हमें चारों ओर दिखाई पड़ते हैं। इसलिए इसमें कोई अचरज नहीं कि भारत में समाजशास्त्र का मुख्य सरोकार स्तरीकरण के मुद्दे रहे हैं। भारत को सभी ज्ञात समाजों में सबसे अधिक स्तरित माना जाता है। समाजशास्त्रियों के अनुसार इसका मुख्य कारण संभवत: वर्ण व्यवस्था है जिसमें आधिपत्य और अधीनता के कई रूप देखने में आते हैं। नृविज्ञानियों और समाजशास्त्रियों ने विभिन्न जातियों और जनजातियों का गहराई से अध्ययन किया है तो वहीं नीतिकनयामको और समाजशास्त्री सांस्कृतिक विविधता और आर्थिक असमानता के मुद्दों में उलझे रहे हैं, जो सामाजिक स्तरीकरण के मुख्य मुद्दे हैं। जैसा कि समाजशास्त्री दीपांकर गुप्ता कहते हैं: "हमारे संविधान में यह पूरी तरह से प्रतिबिंबित होता है जो जाति, भाषा, धर्म या मत के आधार पर किसी भी प्रकार के भेदभाव को गैरकानूनी ठहराता है। इससे स्पष्ट होता है कि स्वतंत्र भारत के संस्थापकों ने हमारे समाज में विद्यमान सामाजिक स्तरीकरण की मुख्य विशेषताओं पर गइराई से मंथन किया था।"

संविधान में लिंग के आधार पर भेदभाव को भी स्पष्टतया गैरकानूनी ठहराया गया है। मगर सामाजिक स्तरीकरण के अध्ययन में प्रयुक्त होने वाले सिद्धांतों में सामाजिक-लिंग को अनदेखा कर दिया। एक तरह से यह जन-संवाद का हिस्सा कभी नहीं बना। लेकिन पिछले बीस वर्षों में इसमें भारी बदलाव आया है। नारीवादियों ने वर्ग और जाति, घर और परिवार से जुड़े सिद्धांतों की गहराई से जांच-पड़ताल की है और यह प्रमाणित किया है कि ये अवधारणाएं किस तरह से सामाजिक-लिग निरपेक्ष सिद्धांत पर काम करती आ रही हैं। संविधान ने जाति और धर्म के आधार पर भेदभाव को भी गलत ठहराया है। पिछले दो दशकों से जातीय समूह भी अपने हितों की जोरदार हिमायत करने लगे हैं और इस प्रकार संविधान में जो वादे किए गए हैं वे उनका भरपूर लाभ उठा रहे हैं। समाजशास्त्रियों ने इस वास्तविकता को जान लिया है कि जातीय पहचान के दावों का घनिष्ठ संबंध भौतिक और अभौतिक संसाधनों तक उनकी असमान पहुंच से है इसलिए यह असमानता और स्तरीकरण की उपज है।

4.6 शब्दावली

जातीयता : यह सांस्कृतिक प्रथाएं और दृष्टिकोण है जो लोगों के एक निश्चित समुदाय को विशिष्ट पहचान देते हैं।

सामाजिक-लिंग सोच (जेंडर) : यह सामाजिक और सांस्कृतिक विचार है जो हमारे पालन-पोषण के साथ चलते हैं। ये विचार ही हममें स्त्री/पुरुष की धारणाओं को जन्म देते हैं।

क्रम परंपरा : यह कमान या आदेश की एक सीढ़ी है, एक क्रम है. जो हमें एक जन-समूह की हैसियत, उसकी स्थिति को दर्शाती है। उच्च स्थिति समूह अक्सर क्रम-परंपरा के शीर्ष पर विराजमान होता है।

पितृसत्ता : यह परिवार के रूप में गठित एक सामाजिक समूह है जिसकी सत्ता की बागडोर उसके नर-मुखिया के हाथों में होती है।

4.7 कुछ उपयोगी पुस्तकें

गिडंस, एंथनी 1989 *सोशियॉलाजी* (पॉलिटी प्रेस, कैम्ब्रिज)

गुप्ता, दीपांकर (संपा) 1991 *सोशल स्ट्रैटीफिकेशन* (ऑक्सफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, नई दिल्ली)

4.8 बोध प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न 1

1) जातीय अल्पसंख्यक असल में अल्पसंख्यक जन समूह हैं जिनकी अनेक विशेषताएं हैं।

   i) इनके सदस्य भेदभावों का शिकार होने के कारण अलाभकर स्थिति में रहते हैं, ii) अल्पसंख्यक समुदाय के सदस्यों में सामूहिक एकात्मकता की भावना होती है iii) वे बहुसंख्यक समुदाय से सामाजिक रूप से पृथक होते हैं।

2) महिलाओं और जातीय समूहों दोनों में उच्च दृश्यमानता दिखाई देती है। वे भिन्न दिखाई देते हैं और भिन्न तरीके से आचरण करते हैं। प्राकृतिक और सामाजिक भेद कम स्पष्ट होते जाते हैं। प्राकृतिक भेदों को अभिन्न और अकाट्य माना जाता है। मगर यह स्पष्ट है कि सामाजिक-लिंग एक प्राकृतिक (जैविक) अवस्था नहीं है बल्कि यह सांस्कृतिक है।

बोध प्रश्न 2

1) हमें यह कहना चाहिए कि राष्ट्रवाद अपने आप में जातीयता का ही एक रूप है। इसकी रचना एक विशेष जातीय पहचान के राज्य में संस्थायन से होती है। लेकिन यहां अंतर यह है कि जातीय समूह जब तक जरूरत न पड़े मिल-जुलकर काररवाई नहीं करते जबकि राज्य एक इकाई के रूप में काम करता है। दूसरी ओर जातीय समूहों को राज्य का दर्जा पाने के लिए अक्सर आंदोलन करना पड़ता है।

2) पितृसत्ता हमेशा पुरुषों का पक्ष लेती है और इसमें पुरुष ही सत्ता के मुखिया होते हैं। इसके फलस्वरूप राज्य भी पुरुषों का ही पक्षपोषण करता हैं। पुरुष अक्सर महिलाओं से अधिक कमाते हैं जिससे उनके आधिपत्य को और बल मिलता है। मगर जब महिला की आमदनी पुरुष से अधिक हो तो इससे पुरुष की हैसियत, उसकी स्थिति में इजाफा तो होता है मगर प्राय: महिला की हैसियत में इजाफा नहीं होता। मगर ऐसी स्थिति में जहां महिला ही एकमात्र कमाने वाली हो तो इससे पितृसत्ता के लिए एक बड़ी चुनौती पैदा हो जाती है।

संदर्भ सूची खंड 1

बेली, एफ.जी. 1963, "क्लोज्ड सोशल स्ट्रैटिफिकेशन इन इंडिया" *यूरोपियन जरनल ऑफ सोशियोलॉजी* अंक VII, I, पृष्ठ 107-24

बाल्टीमोर, टी.वी., 1985, *ए डिक्शनरी ऑफ मार्क्सिस्ट थॉट*, ऑक्सफर्ड, बेसिल ब्लैकवेल पब्लिशर लि. पृष्ठ 120-21

डेविस, के., और डब्लू, ई. मूर, 1943, सम 'प्रिंसिपल्स ऑफ स्ट्रैटीफिकेशन' *अमेरिकन सोशियलॉजिकल रिव्यू*, भाग 10, संख्या 2, पृ. 242-49

देसाई, ए.आर. 1975, *स्टेट ऐंड सोसाइटी इन इंडिया: एसेज इन डिसेंट*, बंबई पॉपुलर प्रकाशन

फ्रायडन, बी., 1963, *द फेमिनिन मिस्टीक*, न्यू यॉर्क डब्लू.डब्लू नोर्टन

लीच, ई.आर., 1960 "ह्वाट शुड वी मीन बाइ कास्ट?" ई.आर. लीच (संपा.) *आस्पेक्ट्स ऑफ कास्ट इन साउथ इंडिया, सीलोन ऐंड नॉर्थ-वेस्ट पाकिस्तान*, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, कैम्ब्रिज, पृष्ठ 1-10

मैकॉबी ई., और जैकलीन सी.एच. 1975, *द साइकॉलोजी ऑफ सेक्स डिफ्रेंसेज*, स्टैनफर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस

मार्क्स, कार्ल और एंजेल्स एफ. 1947 *द जर्मन आइडियॉलोजी*, न्यू यॉर्क इंटरनेशनल पब्लिशर्स पृष्ठ 23

मीड, एम., 1968, *मेल ऐंड फीमेल: ए स्टडी ऑफ द सेक्सेज इन ए चेंजिंग वर्ल्ड*, न्यूयॉर्क, डब्लू, डब्लू मोर्टन

मिचेल, जे., 1971, *वूमंस एस्टेट*, न्यू यॉर्क, पैंथियॉन

रुद्रा, ए., 1978, "क्लास रिलेशंस इन इंडियन एग्रीकल्चर-I" *इकोनॉमिक ऐंड पॉलिटिकल वीकली* खंड,XII अंक 22

स्मिथ, एम.जी., 1964, "प्री-इंडस्ट्रियल स्ट्रैटिफिकेशन सिस्टम" एस.एम. लिपसेट ऐंड एन.जे. स्मेल्सर (संपा.) *सोशल स्ट्रक्चर ऐंड मोबिलिटी इन इकोनॉमिक डेवलपमेंट*, लंदन, राउटलेज ऐंड केगन पॉल पृष्ठ 141-76